ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBBIL04292
RNI REG. NO. UPBBIL/2014/66218 PP. NO.- 296-298
ISSN NO.-2347-2944
Vol.-9, No.-II, Issues-10 YEAR- Dec -2018

महर्षि पतंजलि योगदर्शन एवं नियम

डॉ0 कुसुम लता
एसोसिएट प्रोफेसर– संस्कृत विभाग, राजकीय रज़ा स्नामकोत्तर महाविद्यालय रामपुर (उ0प्र0), भारत

Received- 11.11.2018, Revised- 14.11.2018, Accepted - 18.11.2018 E-mail: drkusumlatasingh. @gmail.com

सारांश : *योग दर्शन छः आस्तिक दर्शनों में से एक है। इस दर्शन के प्रणेता महर्षि पतंजलि मुनि हैं। महर्षि पतंजलि ने इस दर्शन के माध्यम से मानव समाज को एक ऐसा सुगम मार्ग दिखाया है जिस पर चलकर वह जीवन के परम लक्ष्य (मोक्ष) को प्राप्त कर तथा अपने जीवन को सफल बनायें। इस दर्शन की एक विशेषता है कि यह अन्य दर्शनों की भांति जीव तथा जगत से सम्बन्धित तत्वमीमांसा के विविध प्रश्नों में न पड़ते हुए मोक्ष प्राप्ति वाले सुगम दर्शन को प्रस्तुत करता है। इस दर्शन में प्रकृति एवं पुरुष के स्वरूप के साथ ईश्वर के अस्तित्व को सम्मिलित कर मानव जीवन की शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के लिये एक व्यावहारिक रूप प्रस्तुत किया गया है। इस दर्शन में चित्त की वृत्तियों पर नियंत्रण की बात की गयी है। चित्त की वृत्तियों पर वियंत्रण के बिना मोक्ष सम्भव नहीं है तथा इन वृत्तियों पर नियंत्रण प्राप्त करना ही योग है या योग की अवस्था है।*

कुंजीभूत शब्द– मानव समाज, मोक्ष, तत्वमीमांसा, अस्तित्व, शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक उन्नति।

''योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'' अर्थात पतंजलि के अनुसार चित्त की वृत्तियों को नियंत्रित करना या मन को इधर–उधर भटकने से रोकना तथा उसे एक स्थान पर केन्द्रित करना ही योग है। महर्षि पतंजलि का यह सम्पूर्ण दर्शन चार पादों– समाधि पाद, साधन पाद, विभूतिपाद तथा कैवल्यपाद में विभाजित किया गया है। समाधिपाद में योग के उद्देश्य एवं लक्ष्य के सम्बन्ध में बताया गया है। साधन पाद में मुख्य रूप से पंच क्लेशों का वर्णन किया गया है तथा इन पंच क्लेशों पर नियंत्रण का साधन भी बताया गया है। विभूतिपाद में साधकों द्वारा किये गये विविध अनुष्ठानो से प्राप्त होने वाली
विविध प्रकार की सिद्धियों अर्थात विभूतियों का वर्णन किया गया है।

महर्षि पतंजलि ने कैवल्यता की स्थिति को प्राप्त करने के लिये जो सुगम मार्ग योग दर्शन में बताये हैं उसके आठ अंग हैं जिसे योग दर्शन में अष्टांगयोग के नाम से जाना जाता है। इस सन्दर्भ में योग सूत्र में लिखा गया है–

''यमनियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणाध्यान समाधयोऽष्टावंगानि।।''2

योग के ये आठ अंग हैं– 1.यम, 2. नियम, 3. आसन, 4. प्राणायाम, 5. प्रत्याहार, 6. धारणा, 7. ध्यान, 8. समाधि। प्रस्तुत अध्ययन अष्टांगयोग के द्वितीय अंग नियम पर केन्द्रित है।

नियम– नियम अष्टांगयोग का दूसरा आधारभूत अंग है। नियम को योग में प्रवृत्तिमूलक साधन माना गया है। योग दर्शन में पांच नियम बताये गये हैं योग–सूत्र में महर्षि पतंजलि नियम के सन्दर्भ में कहते हैं–

''शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।।''

1. शौच– शौच का अर्थ शुद्धि क्रिया से है जिसका समार्थी शब्द है– शुद्धता, शुचिता या पवित्रता। यह शुद्धता या पवित्रता मुख्य रूप से दो प्रकार की होती है– ;पद्ध वाह्य तथा ;पपद्ध आन्तरिक। जल, मिट्टी आदि के द्वारा जब व्यक्ति अपने शरीर, खाद्य पदार्थ, वस्त्र तथा अपने भवन या निवास स्थान को साफ करता है तो इसे वाह्य शुद्धि की श्रेणी में रखा जायेगा जबकि मित्रता, सद्विचार, करूणा भाव आदि से की जाने वाली शुद्धि आन्तरिक शुद्धि की श्रेणी में आती है। महर्षि पतंजलि वाह्य शुद्धि के साथ–साथ आन्तरिक शुद्धि पर भी बल देते हैं। आन्तरिक शुद्धि के द्वारा मन की एकाग्रता, इन्द्रिय विषयों पर रोक, आत्म दर्शन की क्षमता जाग्रित होती है।

वाह्य शुद्धि के सन्दर्भ में योग–सूत्र में कहा गया है– ''शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः।''

वाह्य शुद्धि के पालन से योगी को अपने शरीर से वैराग्य होने लगता है जिससे उसे शरीर के प्रति आसक्ति नहीं रहती है तथा साथ ही साथ दूसरे सांसारिक मनुष्यों के साथ संसर्ग करने की इच्छा समाप्त होने लगती है। आन्तरिक शुद्धि के सन्दर्भ में योग सूत्र में कहा गया है–

''सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वनि च।।''

अर्थात आन्तरिक शुद्धि से मन को सौम्यता प्राप्त होती है जिससे अन्तःकरण निर्मल होता है तथा इन्द्रियों पर मन का नियंत्रण होता है जिससे साधक के अन्दर आत्म–दर्शन की क्षमता आ जाती है।

मनुस्मृति में शौच के सन्दर्भ में कहा गया है–

''अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति।।''

एक योगी को प्रतिदिन जल से शरीर की शुद्धि

करनी चाहिये, सत्य के आचरण से मन की शुद्धि करनी चाहिये, विद्या तथा तप द्वारा आत्मा की शुद्धि करनी चाहिये तथा ज्ञान से बुद्धि की शुद्धि करनी चाहिये। अतः शौच का वास्तविक अर्थ वाह्य तथा आन्तरिक शुद्धि ही है।

2. संतोष– साधक का अपने पुरुषार्थ से प्राप्त प्रतिफल से पूर्णरूप से संतुष्ट रहना तथा इसी में ईश्वर की कृपा का अनुभव करना संतोष है। योग दर्शन में इस बात पर बल दिया गया है कि व्यक्ति को अपने पास उपलब्ध सभी साधनों द्वारा प्रयत्नशील रहते हुए पुरुषार्थ करना चाहिये तथा पुरुषार्थ से प्राप्त प्रतिफलको ईश्वर क कृपा मानकर सहर्ष स्वीकार करना चाहिये तथा जो वस्तुएं अप्राप्य है उनके लिये व्यर्थ दुःखी नहीं होना चाहिये। योग–सूत्र में कहा गया है–

''संतोषादनुत्तमसुखलाभः।''

संतोष से जो अनन्त सुख साधक को प्राप्त होता है उस सुख की तुलना संसार के किसी अन्य सुख से नहीं की जा सकती। संतोष के सम्बन्ध में महर्षि व्यास कहते हैं–

''संतोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्।।''

संतोष रूपी अमृतपान करने से तृप्त शान्तचित्त मानव को जो आत्मिक सुख प्राप्त होता है वह धन दौलत की आकुलता से व्यथित व्यक्ति को कभी नहीं प्राप्त हो सकता। संतोष के सम्बन्ध में एक प्रचलित उक्ति है–

'संतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्यय।' अर्थात सुख का वास्तविक आधार संतोष है तथा असंतोष (तृष्णा, लालसा) समस्त दुःखों का मूल है। अतः एक योगी को पूर्ण पुरुषार्थ करते हुए उसके द्वारा प्राप्त प्रतिफल से संतुष्ट रहना चाहिये। प्रतिफल को ईश्वर की कृपा के भाव से स्वीकार करना चाहिये।

3. तप– साधक का अपने उद्देश्य सिद्धि के दौरान मार्ग में आने वाली प्रतिकूल परिस्थितियां तथा बाधाओं को चुनौती के रूप में स्वीकार करते हुए उनका सहर्ष सामना करना एवं आगे बढ़ते रहना ही तप है। तप के सन्दर्भ में योग–सूत्र में कहा गया है–

''कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।।''

अर्थात तप के प्रभाव से शरीर तथा इन्द्रियों के मल का नाश होता है जिससे शरीर तथा इन्द्रियां निर्मल हो जाती है तथा सिद्धि को प्राप्त करती हैं।

महाभारत के एक प्रसंग में यक्ष युधिष्ठिर से प्रश्न करता है– 'तपसः किं लक्षणम्' जिसके उत्तर में युधिष्ठिर कहते हैं– 'तपः स्वधर्मवर्तित्वम्।' अपने कर्तव्य के पालन में विघ्न–बाधाओं को सहते हुए अपने स्वधर्म का पालन करना ही तप है। व्यक्ति के जीवन में अपने कर्तव्य पालन के दौरान विभिन्न द्वन्द्वों का सामना करना पड़ता है। जैसे– भूख–प्यास, हानि–लाभ, गर्मी–सर्दी, मान–अपमान, सत्कार– तिरस्कार, जय–पराजय, सुख–दुःख आदि। साधक का इन विपरीत परिस्थितियों का सहर्ष सामना करना तथा अपने लक्ष्य पर बने रहना ही तप है।

तप के सन्दर्भ में लोगों की कुछ भ्रांतियां भी हैं। कुछ लोग शरीर को धूप–अग्नि आदि के द्वारा कष्ट पहुँचाने को तप मानते हैं जो कही से भी तर्कसंगत नहीं है।

4. स्वाध्याय– स्वाध्याय नियम का चतुर्थ अनुष्ठान है। शाब्दिक दृष्टि से स्वाध्याय के दो अर्थ हैं– प्रथम अर्थ है– 'सु अध्ययनं स्वाध्यायः' अर्थात उत्तम अध्ययन। अतः स्वाध्याय के अन्तर्गत साधक द्वारा शास्त्रों एवं पवित्र ग्रन्थों का आस्था पूर्वक अध्ययन किया जाता है जिसके परिणामस्वरूप हमारे विचारों एवं संस्कारों में दृढ़ता एवं पवित्रता आती है। स्वाध्याय का द्वितीय अर्थ है– स्व–अध्ययन, अर्थात खुद के बारे में अध्ययन। अपने आप का अध्ययन, अपने अस्तित्व के बारे में जानने का प्रयास करना कि मेरा अस्तित्व क्या है हमें किसने बनाया है तथा बनाये जाने का उद्देश्य क्या है, हमें क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये? अतः स्वाध्याय का अर्थ विवेक पूर्वक वास्तविकता की जानकारी करना भी है कि वास्तव में हमसे जुड़ी हुई वास्तविक सच्चाई क्या है ? स्वाध्याय साधक को चिन्तनशील बनाता है। स्वाध्याय के सन्दर्भ में योग सूत्र में कहा गया है–

''स्वाध्यायंदिष्टदेवतासम्प्रयोगः।।''

शास्त्रों का अध्ययन,मंत्रों का उच्चारण तथा स्वयं के स्वरूप को जानने का अनवरत प्रयत्नशील रहते हुए साधक अपने ईष्ट देव के दर्शन करने में सक्षम हो जाता है। यह स्वाध्याय का ही प्रतिफल है।

स्वाध्याय के सन्दर्भ में महर्षि व्यास कहते हैं–

''प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं वा।''

अर्थात प्रणव–ओंकार को जपना, मोक्षदायिनी शास्त्रों का अध्ययन करना ही स्वाध्याय है।

5. ईश्वर–प्रणिधान– ईश्वर–प्रणिधान नियम का पाचवां तथा अन्तिम अनुष्ठान है। इस अनुष्ठान में साधक खुद को ईश्वर को समर्पित कर देता है। साधक खुद के अस्तित्व अर्थात अहम को त्याग कर अपने आप को ईश्वर को समर्पित कर देता है। वह अपनी समस्त क्रियाओं को ईश्वर के प्रति समर्पण भाव से करता है तथा फल की इच्छा का परित्याग कर देता है। ईश्वर प्रणिधान के सम्बन्ध में योग–सूत्र में कहा गया है–

''समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।।''

अर्थात ईश्वर की शरणागति होने से योगसा धना में शीघ्रता से समाधि की अवस्था प्राप्त होती है क्योंकि ईश्वर शरणागति के कारण साधक को कर्म–फल की चिन्ता नहीं

ISSN NO.-2347-2944
Vol.-9, No.-II, Issues-10 YEAR- Dec -2018

होती जिससे वह इधर–उधर की चिन्ता किये बिना एकाग्रचित भाव से अपने साधना में लगा रहता है।

ईश्वर–प्रणिधान के सम्बन्ध में व्यास भाष्य योग दर्शन में कहा गया है–

"ईख्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुर्वर्पणं तत्फलसन्यासो वा।"

अर्थात अपनी समस्त क्रियाओं को परमगुरू ईश्वर के प्रति समर्पित कर फल की इच्छा का परित्याग कर देने से साधक समाधि की सिद्धि आसानी से प्राप्त करता है।

निष्कर्ष– अतः नियम अष्टांग योग का एक अभिन्न अंग है जिसमें शौच के माध्यम से साधक अपने शरीर तथा मन दोनों को शुद्ध एवं निर्मल बनाता है। सन्तोष के द्वारा साधक अपने पास उपस्थित सीमित संसाधनों से संतुष्ट होकर सुखद जीवन का अनुभव करता है तथा मोह एवं लिप्सा के कारण व्याप्त सांसारिक दुःखों से अपने को बचाता है। तप केद्वारा साधक अपने को विपरीत परिस्थितियों में भी समभाव की स्थिति बनाये रखने में समर्थ हो जाता है तथा सांसारिक द्वन्द्वों से अपने को अलग करने में सफल होता है। स्वाध्याय के द्वारा साधक खुद अपने बारे में खुद को जानने का अवसर प्राप्त करता है साथ ही साथ शास्त्रों का अध्ययन कर वह अपने ज्ञान में वृद्धि करता है। वह जीवन के रहस्यों को समझने में समर्थ हो जाता है तथा ईश्वर प्रणिधान की भावना से परिपूर्ण होकर वह खुद को ईश्वर को समर्पित कर देता है तथा शान्त भाव से अपने समाधि सिद्धि में लग जाता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. योग सूत्र– 1/2.
2. वही– 2/29.
3. वही– 2/32.
4. वही– 2/40.
5. वही– 2/41.
6. मनुस्मृति – 5/109.
7. योग–सूत्र– 2/42.
8. व्यास भाष्य योग दर्शन ।
9. योग–सूत्र 2/43.
10. वही– 2/44.
11. वही– 2/45 .
12. व्यासभाष्य योग दर्शन–2/1.

*****